सुमन वचनामृत

प्रस्तुति : श्रीमती विजया कोटेचा, अम्बत्तूर, चेन्नई

गुरु

★ "गुरु" सदा ही उपदेशक होते हैं। उनके उपदेश की महति आवश्यकता है। उनके उपदेश से ही "जिन" का स्वरूप ज्ञात हो सकता है। यदि उनके उपदेश का हमें निमित्त न मिले तो फिर "उपकार" का क्या अर्थ रह जाएगा? उपदेश से ही "जिन भगवान" का स्वरूप अर्थात् "स्व-पर" का अर्थ-परमार्थ समझा जा सकता है।

★ गुरु शब्द एक व्यापक अर्थ को लिए हुए है। वह उदार है, सार्वभौम है। मार्ग दर्शक के रूप में इस शब्द को सर्वत्र सम्मान दिया गया है। धर्म क्षेत्र के अतिरिक्त विद्या, कला, शिल्प आदि सभी क्षेत्रों में भी गुरु का स्थान सर्वोपरि है।

★ वस्तुस्थिति / स्वरूप को न समझने, ज्ञान नहीं होने के कारण ही व्यक्ति ने अनंत दुःख को प्राप्त किया है। किन्तु जब सद्गुरु-चरण की शरण ली तो उसे वस्तु स्वरूप/स्व-पर को जानने की दृष्टि मिली।

★ गुरू वही होता है जो हमारा मार्ग बदल दे, जो हमारे जीवन में आमूलचल परिवर्तन ला दे।

★ सद्गुरु की चरण उपासना, हमारे लिये बहुत बड़ा आलंबन है, सहारा है, क्योंकि गुरु मार्गदर्शक होते हैं। उनके पथ निर्देशन में हम चलते रहें तो पथ-भ्रष्ट नहीं होते तथा हमें वस्तु स्वरूप का ज्ञान भी प्राप्त होता है।

★ जिस प्रकार सूर्योदय होने / प्रकाश होने पर भी आँख के बिना नहीं देखा जा सकता, इसी प्रकार कोई कितना ही चतुर क्यों न हो, निर्देशक/गुरु के अभाव में तत्त्वदर्शन प्राप्त नहीं कर सकता।

★ सद्गुरु की संगति/उपासना से ही हमें मोक्ष सिद्धि का मार्ग मिल सकता है।

★ सद्गुरु से ही आत्म-परमात्म, स्व-पर, जड़-चेतन का अलौकिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु यह तभी प्राप्त होता है जब व्यक्ति/जिज्ञासु साधक अपने पक्ष, विचार मोह, परम्परागत मान्यता, पूर्वाग्रह को छोड़ देता है, अन्यथा नहीं।

★ गुरु द्वारा प्रदत्त दृष्टि ही भगवान् से साक्षात्कार कराने में सक्षम है।

★ जिसमें ज्ञान, चारित्र, सन्तोष, शील, आदि गुण विद्यमान हो, ऐसे गीतार्थ पुरुष को 'सद्गुरु' कहते हैं।

★ हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया सद्गुरु के बिना उपलब्ध नहीं हो सकती।

★ गुरुजन कष्टसहिष्णु होते हैं। उनको कष्ट सहने का अभ्यास होता है, इसलिये वे दूसरों को भी वही शिक्षा देकर उनके परीषह-तप्त मन को प्रशांत करते रहते हैं।

★ हम गुरु उसे ही स्वीकार करें जो हमारे मन को बदल दे, वासना एवं कषाय की ग्रन्थियों को खोल दे, जो हमें एक दिशा दे। जो हमारे जीवन को मोड़ देता है वही सच्चा 'गुरु' होता है।

★ आत्मज्ञान, समदर्शिता, उदयक्रम से विचरण, अपूर्व वाणी, परमश्रुत – ये पांच लक्षण 'सद्गुरु' में होते हैं।

★ गुरु बांटता नहीं, गुरू तोड़ता नहीं, गुरू तो मनों को जोड़ता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

★ असली गुरू तो वही है जो हमें निरंतर मोक्ष-मार्ग की प्रेरणा देते हैं किंतु पंथवाद का/पक्षपात का जहर नहीं उगलते। यदि गुरु ही पक्षपात का जहर उगलने लगेंगे तो फिर अमृत कौन बरसायेगा? जैन धर्म और दर्शन की जो आत्मा है, उसमें टेढ़ापन नहीं है, न उसमें स्थानकवासी का भेद है, न तेरापंथ का है, न उसमें मूर्तिपूजक का भेद है और न ही श्वेताम्बर या दिगम्बर का। इस समाज को तो हमारी संकीर्ण दृष्टियों ने / विचारों ने ही विभाजित किया है।

★ गुरु का अर्थ है – अध्यात्म जीवन के लिये सहारा। गरु और शिष्य की परम्परा तो एक जीवन-परम्परा है। साधना-मार्ग में लड़खड़ाते हुए को सहारा देने वाले सिर्फ गुरु ही होते हैं।

★ मानसिक चंचलता को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय है – "गुरु आज्ञा" गुरु के निर्देश का सजग रह कर पालन करना/इसके लिए अपनी इच्छा को गौण करना अनिवार्य है।

★ सद्गुरुशरण-ग्रहण से व्यक्ति अपनी बुरी आदत, बुरे विचार तथा बुरे कर्म से सहज ही बच जाता है।

★ सत्य की प्राप्ति, जिज्ञासा की पूर्ति गुरु-सम्मुख होने से ही होती है।

★ गुरु ही मानव को दानवी वृत्ति से दूर कर आध्यात्मिक वृत्ति में संलग्न करते हैं ताकि मनुष्य नारकीय/ पशुवत तथा दानवी जीवन व्यतीत न करके मानवता के साथ जीए।

★ जो व्यक्ति मत और दर्शन का आग्रह छोड़कर सद्गुरु के कथानुसार आचरण करता है, उसे शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

धर्म और जीवन व्यवहार

★ जीवन व्यवहार में कठोर वचन, क्रोध के वचन, अहंकार के वचन काम नहीं देते। अविवेकपूर्ण वचनों से मुसीबतें खड़ी हो जाती हैं, आदमी विषद-ग्रस्त हो जाता हैं। इसके विपरीत जीवन व्यवहार में नम्रता धारण करने से व्यक्ति संकटों से उबर जाता है।

★ जीवन व्यवहार में हमारे खाते अलग-अलग हैं। झूठ बोलने के खाते अलग हैं, सच बोलने के खाते अलग हैं, कम तोलने-मापने के अलग हैं। अमानत में खयानत करने के अलग खाते हैं और धर्म स्थान में बैठ कर धर्म करने के खाते अलग हैं। क्या है यह सब? बहुत बड़ा मजाक है यह, जीवन को विद्रूप बनाने का। जब हम जीवन-व्यवहार में धर्म को नहीं लाते तब व्यवहार में से दुर्गन्ध आती है ; तो दूसरों को भी धर्म के प्रति नफरत हो जाती है कि धर्म ने इन्हें क्या सिखाया? धर्म ने इन पर क्या प्रभाव डाला है?

★ धन और धर्म भिन्न-भिन्न वस्तुऐं है। धन तो देह के सुखोपयोग और जीवनयापन के लिए है लेकिन धर्म आत्मा को शाश्वत शांति देने के लिये होता है।

★ अक्सर कहा – सुना जाता है कि मरने के बाद स्वर्ग-सुख मिलता है, देह त्याग के पश्चात् ही मोक्ष-सुख प्राप्त होता है आदि-आदि। किन्तु तत्त्व दृष्टि से विचार किया जाये तो वर्तमान जीवन जीते हुए यदि सुखानुभूति नहीं है, तो देह छोड़ने के बाद सुख की आशा करना मृगतृष्णा की भाँति दुराशा मात्र है। जो व्यक्ति वर्तमान में अपने क्रिया-कलापों से सन्तुष्ट हो वर्तमान जीवन में सुख-सन्तोष से रहना चाहिये, भविष्य में स्वतः ही आनंद प्राप्त हो जाये।

★ बहुत काल तक शंका का समाधान न मिलने पर तत्त्व के प्रति असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। वह असन्तोष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही कालान्तर में अनास्था में बदल जाता है, आस्था के अभाव में जीवन व्यवहार भी श्रद्धाविहीन हो जाता है।

★ जिन्दगी में उतार-चढ़ाव आते ही रहते हैं। वस्तुओं का कहीं प्राचुर्य है तो कहीं अभाव। अधिक साधनों वाला बहुत ऊंचा है, और थोड़े साधनों वाला नीचा है यह विचार सही नहीं है। अमीर-गरीब, छोडा-बड़ा आदि समाजिक व्यवस्था का अथवा मानवीय विचार वाला व्यापार है और कुछ नहीं है। वस्तु को, धन को तो विशेषण बना दिया गया है, आदमी की उच्चता के लिये। धन का अभाव या प्रभाव जब हम पर हावी नहीं हो, तभी जागरूक जीवन जीने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

★ जब तक जीवन उच्च स्थिति में नहीं पहुँचता है, तब तक तो जीने के लिये एक-दूसरे का सहयोग, लेना-देना एक धर्म है कर्त्तव्य है। व्यक्ति को सहयोग लेना भी होता है और देना भी होता है। यही सहानुभूति, सहयोग, तथा सहअस्तित्व के बनाये रखने का एक मार्ग है।

★ मनुष्य का भाग्य जब दुर्भाग्य में परिणत होता है, जब बुरे कर्मों का उदय होता है, तब दिन दुर्दिन हो जाते हैं। उस समय सब बातें विपरीत हो जाती हैं, दुश्मन भी प्रसन्न हो जाते हैं, इस दशा को देख कर लोग भी पराये हो जाते हैं और लेनदार कर्ज लौटाने का आग्रह करते है। ऐसी स्थिति में सुख कहाँ? शरीर का ढांचा हिल जाता है, चरमरा जाता है, क्योंकि प्रति समय दुख ही दुख/चिंता ही चिंता सताती है। खुशी शुष्क हो गई, हृदय में दुःख की शूलें बढ़ गई। विपदा ग्रस्त व्यक्ति की लगभग यही दशा होती है। विपत्ति में पड़े व्यक्ति को विपदग्रस्त ही सहानुभूति जताता है कि – "भाई! तू क्या सोच रहा है? मेरी तरफ देख, मैं भी विपद ग्रस्त हूँ।" वह हमदर्दी जतायेगा, उसकी कुछ मदद करने की कोशिश करेगा। लेकिन संपति में रहने वाला व्यक्ति, विपत्ति में रहनेवाले की मनःस्थिति को क्या समझ पाएगा? और उसकी कैसे मदद करेगा?

★ जब तक मतलब निकलता रहे, स्वार्थ पूरा होता रहे सब अपने हैं...! जब मतलब न निकले, स्वार्थ पूरा न हो, उस समय कौन किसका होता है?

★ जीवन में गुणों का महत्त्व है। बिना गुण के वस्तु का भी अवमूल्यन हो जाता है, उसी प्रकार जीवन का भी। गुण वस्तु का स्वभाव और धर्म होता है, जो उससे कभी अलग नहीं होता, बल्कि आवृत होता है, प्रयोग से, संसर्ग से। दूध में दुग्धत्व घृत उसका गुण है किन्तु मन्थन से वह दुग्ध सपरेटा होकर विकृत हो जाता है, उसका भी अवमूल्यन हो जाता है। गुण से ही व्यक्ति का गौरव है।

★ किये हुए उपकार को न मानना अकृतज्ञता है। माता-पिता/गुरूदेव, पति, पोषक/मित्र आदि द्वारा किये गए उपकारों को स्वीकार न कर विपरीत प्रतिकार करना "मेरे लिये क्या किया है, इन्होंने?" मन की यह अभिमान वृत्ति है जो सद् गुणों की विनाशक है।

★ कुछ रीतियाँ-नीतियाँ एवं परम्पराएँ सामायिक होती हैं और वे समयानुसार बनती-बिगड़ती रहती हैं। क्योंकि उनके पीछे वक्त का तकाज़ा होता है, सामयिक आवश्यकता, युग की मांग होती है।

★ गृहस्थ और साधु एक ही मुक्ति मार्ग के राही है, अन्तर इतना ही है साधु तेज/त्वरा गति से चलता है और गृहस्थ मन्द/मंथर गति से। उसका कारण है कि गृहस्थ पर पारिवारिक, सामाजिक, व्यवहारिक, राष्ट्रीय आदि कार्यों के दायित्व रहते हैं। उनका निर्वाह करते हुए वह धर्म साधना करता है जब कि साधु उन सम्पूर्ण दायित्वों से मुक्त है।

★ इस काल का क्या भरोसा? पिता-पितामह बैठे रहते है, पुत्र, पौत्र की मृत्यु हो जाती है। वे उठकर चले जाते है सदा के लिये। यदि उन बाप/दादों को 'नाथ' कहलाने का अधिकार है तो फिर उनको पुत्र पौत्रों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संभाल कर रखना चाहिये था। किसी बाप ने अपने बेटे को रखा है क्या अब तक? या किसी पुत्र ने अपने पिता को दायमी-कायगी रखा है? उत्तर – नहीं। तो फिर नाथ कैसे? यह केवल एक सांयोगिक सम्बन्ध है, पिता और पुत्र का एक जगत का रिश्ता है / नाता है। संयोग मिलता है तो इकट्ठे हो जाते है। जब वियोग आता है तो संबन्ध टूट जाते है। संबंध टूटने के बाद कोई जोड़ने वाला नहीं है।

जब वृक्ष हरा-भरा होता है तो पक्षी गण आ-आकर निवास करते हैं उस पर। लेकिन पत्र ; पुष्प, फल-विहीन वृक्ष खड़ा हो कहीं तो उस पर पक्षी भी आकर नहीं बैठते। क्यों कि छाया की शीतलता, फल आदि वहाँ नहीं मिलते। दुनिया की स्थिति भी ऐसी ही है।

नारी

नारी जीवन के मूल्य को, उसके अस्तित्व को समझकर, स्वीकार करके ही भगवान् महावीर ने अपने धर्मसंघ में/ तीर्थ में पुरुष के साथ ही नारी को स्थान दिया था। उन्होंने किसी प्रकार का कोई संकोच नहीं किया था, जब कि समकालीन तथागत बुद्ध ने अपने संघ में नारी को सम्मिलित करने में संकोच किया था। शिष्य भिक्षु आनन्द के निवेदन को नकार दिया था। अन्ततः उन्हें इस आग्रह को स्वीकार करना ही पड़ा, किन्तु अन्तर में उपेक्षा ही थी।

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" अर्थात् जहाँ नारी की पूजा होती है, वहाँ पर देवता भी रमण करते हैं। अतएव नारी का जो स्थान है - बना रहना चाहिये। क्योंकि नारी "माँ" है।

कहाँ किस स्थान पर नारी की जैन धर्म ने निंदा की है? लेकिन विकृत जीवन चाहे नारी का हो या पुरुष का, साधु का हो या साध्वी का हो, जहाँ व्यक्ति जीवन मार्ग से च्युत हो गया, मार्ग भ्रष्ट हो गया, उसकी तो भगवान महावीर ने ही नहीं, सभी ने आलोचना की है।

जाति समाज और राष्ट्र में समय-समय पर प्रभाव प्रबुद्ध नारी जीवन का ही रहा है, जिसने स्वयं के साथ व्यक्ति और समाज को नई दिशा दी है, मात्र धर्मक्षेत्र में ही नहीं, अपितु कर्म क्षेत्र में भी वह अग्रणी रही है। नारी जो पतिव्रता है, किसी भी सम्पद-विपद अवस्था में रहे, चाहे अमीरी में हो या गरीबी में हो संयोग में हो या वियोग में, कभी भी अपने पति को नहीं भूलती है।

संघ समाज के दो पक्ष है - एक नारी का, एक पुरुष का। एक साधु का और दूसरा साध्वी का, इसमें अकेला साधु या साध्वी हो और श्रावक-श्राविका न हो तो कैसे बात बन सकती है? नारी यां साध्वी के अभवा में सर्वांगीण तीर्थ नहीं बन सकता।

अन्तर्जागरण

अन्तर्जागरण के बिना भौतिक आकर्षण और परिणतियों का सम्बन्ध मन से अलग नहीं हो सकता, वह किसी न किसी रूप में जुड़ा हुआ ही रहता है। "मनसि शेते मनुष्यः।" अर्थात् जो चिन्तन मनन में लीन रहता है वह मनुष्य है।

मन, बुद्धि, अहंकार आदि अन्तःकरण की वृत्तियों के जागृत होने का भाव या अवस्था जागरण है। जागरण का भाव असंयम रूप "निद्रा" से जागना है।

आत्मा जब तक बाहरी उपाधि, मन व इन्द्रियों से पराधीन रहती है तब तक वह स्वतन्त्र, स्वाधीन नहीं होती। उसमें दिव्य प्रकाश का जागरण नहीं होता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"जागरह नरा ! निच्चं जागरमाणस्स बड्ढते बुद्धि" – हे मनुष्यों ! सदा जागते रहो। जागृत रहने वालों की बुद्धि बढ़ती है। यह बुद्धि तत्त्व निर्णायक है। कषाय-विषय युक्त मन और बुद्धि विकृत होते हैं। अतः उनके प्रभाव से उचित निर्णय नहीं लिया जा सकता। दुर्योधन रावण आदि इसके ज्वलंत उदाहरण है।

मूर्च्छा में जिस प्रकार होश-हवाश नहीं रहता, उसी प्रकार इस कषायाभिभूत प्राणी को भी जागरण नहीं रहता।

हर व्यक्ति मन से तो चिंतन करता ही रहता है, किन्तु जागृत अवस्था का चिंतन/सोच सम्यक् होता है। सुप्तावस्था में या प्रमाद की अवस्था में चिन्तन सम्यक् नहीं होता।

यदि तू मरना चाहता है, तो मेरे पास आ, मैं तुझे मरने की कला सिखाऊंगा। मैं जिस ढंग से कहूँ तू उसी ढंग से जी और मर तो मर कर के भी अमर हो जायेगा। यह मौत क्या मौत है, जो बार बार मरना और बार बार जीना पड़े। ऐसी मौत आनी चाहिये कि फिर कभी मरना ही न पड़े।

स्वप्न के समान संसार का स्वरूप है। जिस प्रकार सोया हुआ व्यक्ति स्वप्न में नाना प्रकार के दृश्य देखता है और स्वयं को राजादि के रूपों में देखता है, किन्तु जागृत होते ही वे सब दृश्य लुप्त हो जाते हैं, इसी प्रकार जगत् भी बनता है, बिगड़ता है, एकावस्था में नहीं रहता।

❀ ❀ ❀

ज्ञान

हम कहते हैं मकान बहुत सुन्दर है, बहुत अच्छा है किन्तु खड़ा किसके आधार पर है? नींब के आधार पर। उस नींब को तो याद ही न करें। केवल ऊपर भवन के निर्माण को देख कर ही कहें तो एक पक्ष होगा, एकाकी दृष्टिकोण होगा। जैनदर्शन ने वस्तु को एकाकी कोण से देखने को 'अपूर्ण' ज्ञान कहा है। उसे अनेक दृष्टियों से देखना चाहिये, क्योंकि वस्तु अनेक धर्मात्मक है।

❀ ❀ ❀

आत्म - दर्शन

जीवन का चरम लक्ष्य अर्हत् अवस्था प्राप्त करना है, न कि देवत्व को प्राप्त करना। ऐसी परम अवस्था में **"अप्पा सो परमप्पा"** आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।

अध्यात्म जीवन का मूल आधार 'आत्मा' है। इसका साक्षात्कार करना ही साधना या धार्मिक अनुष्ठानों का लक्ष्य है। स्वात्मा की उपलब्धि ही सिद्धि है।

आत्मा जब तक शरीर, इन्द्रियों एवं मन से प्रभावित रहता है, उसके आश्रित रहता है, पूर्ण स्वावलंबी नहीं होता।

हमारी आत्मा अनेक बन्धनों/माया, अविद्या, अज्ञान के आवरणों से आच्छादित है। अनन्त शक्तिमान् होते हुए भी उसको इस बात का भान नहीं होता कि मैं अनन्त शक्ति वाला हूँ लेकिन जब ज्ञान प्राप्त होता है, आवरणों के सारे बन्धन टूट जाते हैं।

हम जितना अधिक विभाव इकट्ठा करते हैं, दुखी होते है। यह जीव (आत्मा) एक से दो अर्थात् जीव व पुद्गल दोनों का सम्मिश्रण हो जाता है, तो दुख ही दुख उत्पन्न हो जाते हैं। आत्मा अकेली रहे और जड़, अज्ञान, अविद्या से दूर रहे तो अनन्त सुख का अजस्र स्रोत निरन्तर प्रवाहित होता रहेगा।

जब आंखों के सामने विषम परिस्थिति आये और उस समय हमारे मन में राग द्वेष न आये एवं मन सम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थिति में रहे तो समझना चाहिये कि मोक्ष के मार्ग में चल रहे है, लेकिन आँख के देखते ही, परिस्थिति के बदलते ही मन में कषाय भाव जागृत हो जाये तो समझो हम जन्म मरण के चक्कर में यू ही भटकते रहेंगे।

कषाय ही जन्म मरण का मूल कारण है। देह धारण करना, देह को छोड़ना, बार-बार जन्म लेना और मरना यही दुख का कारण है।

जो अपने शरीर में आत्मा/जीव का अनुभव करता है वह अन्य शरीरस्थ आत्माओं में भी वैसा ही आत्म-भाव अनुभव करता है।

व्यक्ति अन्य स्थान, व्यवहार क्षेत्रों में पाप, कर्म कर लेता है किन्तु उसके लिये पश्चाताप और प्रायश्चित करके धर्मस्थान में बैठकर उसे छोड़ता है, शुद्धिकरण करता है किन्तु धर्मस्थान में जो व्यक्ति पाप करता है, उसके पाप का मैल वज्र की भांति कठोर हो जाता है, जिसे दूर करना अति कठिन होता है।

जिन्हें जीने की तृष्णा नहीं, मरण का भय नहीं, जिन्होंने लोभ आदि कषायों को जीत लिया, और जिनका मोक्ष के उपाय में प्रवर्तन है, वे आत्म-सिद्धि के मार्ग के उत्कृष्ट पात्र हैं।

परद्रव्य अर्थात् धन, धान्य, परिवार व देहादि में अनुरक्ति होने से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य अर्थात् अपनी आत्मा में लीन होने से सुगति होती है।

यह शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ तथा बन्धु-बांधव आदि भी अन्य है ऐसी अनुभूति जिसे हो गई है, वह आत्मज्ञानी है। आत्मज्ञान वाला व्यक्ति यही अनुभव करता है कि – ज्ञान-दर्शन आदि गुणों से संयुक्त मेरी आत्मा ही शाश्वत है शेष पदार्थ पौद्गलिक हैं, संयोग लक्षण वाले हैं।

जिसने प्रभु को अपने हृदय में बसा लिया है, उसे प्रभु को याद करने की जरूरत नहीं रहती। उसका मन तो निरन्तर अखण्ड रूप से उस प्रभु के स्वरूप में ही तन्मय रहता है, एकाग्र/लीन रहता है। कैसे? जैसे पनिहारी का घट में, नट को अपने संतुलन में, पतिव्रता नारी का पति में, चक्रवाक पक्षिणी का सूर्य में प्रतिक्षण ध्यान रहता है।

शुद्ध उपयोग से की गई क्रिया/धर्मानुष्ठान कर्म निर्जरा का कारण है, इसलिये आत्मा ही चारित्र धर्म है।

जाति तो बाह्य रूप है, जाति, जन्म और शरीर निर्माण माता-पिता आदि के परिचयार्थ हो सकते हैं किन्तु अन्तर्मन/हृदय का परिचय तो उसके ज्ञान/ध्यान/उपदेश, विचार, वाणी से होता है। जिस प्रकार म्यान का मूल्य नहीं होता, इसी प्रकार जाति और देह का भी मूल्य नहीं होता विदेही आत्मा का अनुभव करो, साध्य आत्मा है, देह तो साधन है।

स्वच्छन्दता

स्वच्छन्द वृत्ति मूलतः मोह की उपज है।

स्वच्छन्दता/उच्छृंखलता/उदण्डता को दूर करके ही व्यक्ति आत्मभावों को प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार कवचधारी शिक्षित अश्व सुरक्षित रहता है, इसी प्रकार साधक अपनी स्वच्छंदता का निरोध करके ही सर्व प्रकार के बंधनों से मुक्त हो सकता है।

जो अपनी इच्छाओं का निग्रह नहीं करते हैं और स्वच्छन्द गति से विचरण करते हैं, वे आत्माएँ कर्म जाल में बंधकर विविध भवों में भटकती हैं।

व्यक्ति अपनी स्वच्छन्दता को रोकता है, निरोध करता है। तो अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, मुक्त हो जाता है। इसमें कोई संदेह की बात नहीं है।

साधना काल में भी स्वच्छन्दता को यदि प्रश्रय दिया है; तो वह बंधन का ही कारण है, मुक्ति का नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लौकिक और लोकोत्तर जीवन-साधना में स्वेच्छाचार कैसे हितकर हो सकता है? हम चाहे व्यवहारिक जीवन जीएं, या आध्यात्मिक जीवन गृही जीवन हो या सामाजिक जीवन या राष्ट्रीय जीवन में हों किंतु स्वच्छन्दता को रोकना बहुत आवश्यक है।

जीवन में मोक्ष की बात तो बहुत दूर रही, जहाँ समाज के सदस्यों में स्वच्छन्दता आ जाये तो समाज भी नहीं चलता। देश भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। उसकी व्यवस्था सब छिन्न भिन्न हो जाती है। फिर आत्मा मोक्ष को कैसे प्राप्त करेगी? कर्म के बंधन से वही मुक्त हो सकता है जो अपनी स्वच्छन्दता को रोक लेता है।

स्वच्छन्दता आ जाने पर जीवन की हर साधना/क्रिया में विकृति आ जाती है।

स्वच्छन्दता का सम्बन्ध किसी जाति/वर्ग विशेष से नहीं, उम्र या किसी वेष और लिंग से नहीं है। इसका सम्बन्ध हमारे ज्ञान से और शुद्ध चेतना से नहीं है। इसका सीधा सम्बन्ध मनुष्य की मन की वृत्ति से है। यह मोह से उत्पन्न मानसिक वृत्ति है।

❀ ❀ ❀

विनय - विवेक

विनय की जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है। व्यक्ति चाहे घर में रहे, चाहे घर से बाहर रहे। हर जगह विनय की अपेक्षा रहती है। विनय धर्म है, वह हर समय हमारे साथ रहना चाहिए। चाहें हम धर्म स्थान में हो, या धर्म स्थान से बाहर कहीं भी हो।

विनय का सामान्य अर्थ है – नम्रता, विनम्रता, कोमलता। विनय का और भी अर्थ है अनुशासन, बड़ों की आज्ञा का पालन करना। विनय का विशेष अर्थ है - आचार जो आचरण के योग्य है, उसको स्वीकार करके चलना 'विनय' है।

जाने या अनजाने में कोई अधर्म, विवेकहीन कार्य हो जाये, तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा लेना चाहिये। फिर दूसरी बार वह कार्य न किया जाये। [यही भगवान् महावीर के प्रवचन का सार है]

विषयासक्ति की मंदता, सरलता, सद्गुरु की आज्ञा का पालन, सुविचार, विवेक, करुणा, कोमलता आदि गुण रखनेवाले जीव परमात्म प्राप्ति की प्रथम भूमिका के योग्य हैं।

आत्मार्थी/विवेकी व्यक्ति जहाँ जहाँ जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखें, अपने ज्ञान के माध्यम से उस वस्तु स्थिति को जान कर वैसा ही आचरण करें।

मन में विनय, वाणी में विनय, काया की हर प्रवृत्ति में विनय, इस प्रकार विनय करते-करते एक समय ऐसी स्थिति आ सकती है जब यह आत्मा 'केवल ज्ञान' को पा लेता है।

धर्म का मूल विनय है। विनय के बिना सब शून्य है, निरर्थक है।

भाषा विवेक की कितनी उपयोगिता है? हम क्या कहते हैं? हर समय मेरा-मेरा करते रहते हैं। यही तो देहाध्यास है, वस्तु अध्यास है, ममत्व है, आत्मा को देह मान लिया, और देह को आत्मा मान लिया। यही हमारे बंधन का मूल कारण है।

❀ ❀ ❀

ज्ञान व सम्यक् दृष्टि

ज्ञान दृष्टि से अपने आप को देखो, विषमताएँ स्वतः ही समाप्त हो जायेंगी।

जिससे तत्त्व जाना जाय, जिससे चित्त का निरोध हो, जिससे आत्मा की विशुद्धि हो, उसे हीं जिन शासन में ज्ञान कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान के नेत्र खोलो, उसके बिना वस्तुस्थिति की वास्तविकता मालूम नहीं होगी। केवल वाणी के गुलाम मत बनो, वाणी का अहंकार भी मत करो।

किसान बीज बोता है, किन्तु बीज बोने से पहले धरती को उर्वरा बना लेता है, उसे जोतता है, दाना बाद में डालता है। धरती को उर्वरा किये बिना, कितना भी बढ़िया बीज वह इस धरती में डालेगा, नष्ट हो जायेगा। बस यही स्थिति है हमारी भी। सुना, पढ़ा, सीखा गया ज्ञान, गुरु द्वारा दिया गया ज्ञान, तब तक अच्छा नहीं लगता, जब तक उसके लिये हमारे हृदय की भूमिका/मानस भूमि तैयार नहीं होती।

जो ज्ञान महानिर्जरा का हेतु है, वह ज्ञान अनधिकारी व्यक्ति के हाथ में आने पर अहितकारी हो जाता है।

पढ़े हुए, सुने हुए ज्ञान पर चिंतन नहीं हो, विचारों का मंथन न हो तो तत्त्व हृदयंगम नहीं होता।

प्रकाश और अंधकार एक साथ नहीं रह सकते। इसी प्रकार ज्ञान और मोह एक साथ नहीं रह सकते। ज्ञान दशा का सबसे बड़ा लक्षण निर्मोह स्थिति है।

निज ज्ञान के प्रकट होने पर मोहक्षय हो जाता है।

जब तक आत्मा 'मैं' और 'मेरे' में उलझा रहता है। तब तक सच्चाज्ञान नहीं होता। यह 'अहन्ता/ममता' की स्थिति है।

ज्ञानोपदेश देना सरल है, किन्तु जीवन में उसका आचरण अति कठिन है, कहना छोड़कर करना सीख ले, तो व्यक्ति विष को भी अमृत रूप में बदल सकता है। यही सन्त वाणी है।

जहाँ तेरे मेरे का भाव मिट जाता है, आत्मज्ञान प्रकट हो जाता है तो व्यक्ति सन्मार्ग की ओर बढ़ता ही जाता है, वह मार्ग में कभी भटकता नहीं, अपने लक्ष्य/गंतव्य तक पहुँच जाता है।

त्याग और वैराग्य के अभाव में अगर किसी को ज्ञान हो जाये, तो वह ज्ञान मिथ्या रहता है।

सम्यक्ज्ञान, विचार दृष्टि के अतिरिक्त कोई कानून, कोई सत्ता इस विषमता की खाई को पाट नहीं सकती, इसलिये बहुत आवश्यक है कि व्यक्ति के पास परमार्थ दृष्टि आनी चाहिये।

आत्मज्ञान के बिना, कितनी भी पुण्य की क्रियाएँ या धर्म या धर्म की क्रियाएं कर ली जाय फलहीन हो जाती है।

समदर्शी का अर्थ है – बराबर देखने वाला। छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब, अपना-पराया, उन्हें देखने के जो भाव हैं अन्तरदृष्टि है, वह उनके प्रति यथार्थ, पक्षपात रहित होनी चाहिये। बस इसी को कहते है - समदर्शिता।

सम्यकदृष्टि वही है जिसका मन प्रतिकूल परिस्थिति में उत्तेजित, अनुकूल परिस्थिति में हर्षित नहीं होता। न हर्ष में राग होता है न उत्तेजना में द्वेष।

समदृष्टि पुरुष परस्पर विरोधी वस्तु को भी जानता/समझता हुआ उस पर राग व द्वेष नहीं करता। जैसे शत्रु और मित्र/अनुकूल और प्रतिकूल/इष्ट और अनिष्ट इन सर्व को जानता है, ज्ञाता है। किन्तु समवृत्ति के कारण रागादि से कर्म-बंध नहीं करता।

समदृष्टि मोही नहीं है, अतः उसे दुख नहीं होता। जिसके तृष्णा नहीं है, उसने मोह को नष्ट कर दिया, अकिंचन है, जिसके लोभ नहीं है उसने तृष्णा का नाश कर दिया, वह अकिंचन है। जिसके पास कुछ नहीं है, उसने लोभा का ही नाश कर दिया है।

सभी जीव जीना चाहते है, मरना नहीं। सबको सुख प्रिय है, दुख अप्रिय। जो उससे निवृत्त होता चला जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, यह अनुकम्पा का परिणाम है और सम्यण दृष्टि का लक्षण है।

असम्यग् दृष्टि में आभास मात्र रहता है और सम्यम् दृष्टि के पास ज्ञान रहता है। यह वृत्ति उसे बराबर प्रेरित करी रहती है।

❀ ❀ ❀

मोह

किसी भी प्रकारके पारिवारिक, सामाजिक, और राष्ट्रीय जीवन में जब विकृति आती है, तो वह मोह कर्म के कारण आती है। कई बार व्यक्ति कह देता है – मुझे कोई मोह नहीं है, वह मोह से दूर है, किन्तु ऐसा वास्तव में नहीं होता। वह किसी न किसी अवस्था में मोह अवश्य रखता है। खानदान की जरासी बात चल पड़े किसी बुजुर्ग के नाम की बात चल पडे तो फिर देखो कैसा तमतमाता है? मोह नहीं है तो छोड़ो इन सब को। फिर क्या फर्क पड़ता है किसी के कुछ कहने से, कहने दो उसको लेकिन नहीं, मोह रहता है। मोह को जीतना बहुत कठिन है।

मोह एक प्रकार का उन्माद है। इसे बड़ी कठिनाई से दूर किया जा सकता है। रावण जैसे विद्वान् पुरुष का उन्माद इसका उदाहरण है, अपना सर्वनाश सामने उपस्थित होते हुए भी उसे दिखाई न दिया। इंग्लैंड (ब्रिटेन) के बादशाह जार्ज पंचम ने एक नारी के मोह में, ग्रेट ब्रिटेन का सिंहासन छोड़ना स्वीकार कर लिया। नेपोलियन, सिकन्दर, हिटलर आदि सभी ने राज्य विस्तार, धन वैभव, अहंता की पुष्टि के लिए, मोह के लिये किया, दर-दर की खाक छानी, भयंकर कष्ट सहे। किसने भटकाया उन्हें? मोह ने।

सब प्रपंच का कारण मोह है। सुख-दुख, आकुलता-व्याकुलता, आदि मानसिक यातनाओं का कारण मोह ही है। मोह आसक्ति रूप है। यह व्यक्ति को पदार्थों में मूर्च्छित कर देता है। मोह के कारण व्यक्ति जीवन के अन्य पक्षों को गौण कर, विवेक शून्य हो, हेय और उपादेय का ज्ञान नहीं रखता।

जिस वृक्ष की जड़ सूख गई हो उसे कितना भी सींचिए वह हरा-भरा नहीं होता, वैसे ही मोह के क्षीण होने पर कर्म भी हरे-भरे नहीं होते।

❀ ❀ ❀

वैराग्य/विराग

वैराग्य उसी का सफल है, जिसको आत्मा का ज्ञान है। आत्मज्ञान के बिना वैराग्य शून्य है। ऊपरी वैराग्य का कोई महत्व नहीं। जिस प्रकार किसी ने भोजन छोड़ा, वस्त्र त्याग दिये और कई प्रकार की उपभोग क्रियाएं त्याग दी, लेकिन उसे आत्मज्ञान नहीं है। आत्मज्ञान के बिना छोड़ा गया एवं किया गया त्याग तो देह का कण्ट हो जायेगा। त्याग ज्ञान पूर्वक करना चाहिये, वही निर्जरा का कारण बनेगा। सकाम निर्जरा होगी कर्म की। अन्यथा वह बालकर्म या अज्ञानकर्म ही कहतायेगा। अतः विराग के साथ सही ज्ञान होना अति आवश्यक है।

जहाँ विराग होगा, वहाँ त्याग सहज ही आ जायेगा क्योंकि इच्छाएँ/वासनाऐं शान्त हो जाने से मन हल्का हो जायेगा। मन का हल्कापन वस्तु को त्यागने में ही रहता है, वस्तु को ग्रहण करने में नहीं।

विराग में आसक्ति भाव का उपशम और त्याग है। विरति/विरमण – इससे आश्रव का निरोध होता है। कर्म निर्जरा के लिये इन्द्रिय संवर, योग संवर आदि से आत्मानुभव प्रकट होता है, इसलिये वैराग्य, त्यागादि और आत्मज्ञान दोनों एक दूसरे के पूरक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैराग्य भावना की आराधना किये बिना कोई भी पुरुष मुक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता।

विराग का अर्थ – विषयों से मन का भर जाना, मन का तृप्त हो जाना है। संसारेच्छा/भौतिक पदार्थों की इच्छा न रह कर चित्त में मोक्षाभिलाषा का उत्पन्न होना, उसी का नाम है - विराग। (वैराग को संवेग के नाम से पुकारा जा सकता है। संवेग यानि **"संवेगो मोक्षाभिलाषा"** आत्मा का मोक्षाभिमुख प्रयत्न संवेग है।

चिरकाल तक भोगों को भोग लेने पर भी जीव की तृप्ति नहीं होती। तृप्ति के बिना, चित्त रिक्त/खाली और उत्कंठित रहता है जैसे – ईंधन से अग्नि। सहस्रों नदियों से समुद्र की तृप्ति नहीं होती, वैसे-ही जीव काम-भोगों, शब्दादि से तृप्त नहीं होता। इसके लिए वैराग्य का शीतल जल ही शांति दे सकता है।

धीर पुरुष और वैराग्य युक्त पुरुष स्वल्प शिक्षावाला, ज्ञान वाला होते हुए भी सिद्ध हो जाता है लेकिन विराग विहीन, सर्वशास्त्रों का ज्ञाता होता हुआ भी सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

वैराग्य युक्त पुरुष कर्मों से मुक्त होता है। (विरागस्य भावः वैराग्यम्)

वैराग्य है, तो नियत अच्छी रहती है। जिसकी नियत अच्छी है, उसमें विराग आ जाता है, जिसका मन विषयों से उपरत हो गया – शब्द, गंध, रस, रूप, स्पर्श की आसक्ति छट गई, उसे वैराग्यवान् कहते हैं।

❀ ❀ ❀

क्रिया

किसी भी क्रियानुष्ठान को करने से पहले, उसकी विधि का, उसके स्वरूप का और उसमें लगने वाले जो दोष हैं, उसमें रहने वाली जो त्रुटियाँ हैं, उनकी जानकारी पहले कर लेनी चाहिये।

जिस क्रिया में प्राण रहता है वही क्रिया हमारे जीवन का उद्धार और कल्याण करने में और हमारे मन को, जीवन को मोड़ने में समर्थ रहती है। जब तक हमारी क्रियायें प्राणवान् नहीं रहतीं, विवेक और ज्ञानपूर्ण नहीं रहती, तब वे जड़ कहलाती हैं।

जब हम केवलमात्र ज्ञान को प्रमुखता देते हैं। क्रिया को गौण कर देते हैं, तब ज्ञान और विचार पक्ष प्रबल हो जाता है, वहाँ करने-कराने को कुछ नहीं रहता और केवल वचनों की, वाणी की ही मारोमार है।

ज्ञान और क्रिया के समन्वय से मुक्ति होती है और वही मूल मार्ग हमने छोड़ दिया। फिर मुक्तावस्था कैसे आयेगी? कर्म आवरण कैसे दूर होगा? अन्तरज्योति कैसे प्रकट होगी? नहीं होगी। फलतः ऐसे जीव के लिये जो शुष्क ज्ञानी और जड़ क्रियावान् है न तो मोक्ष है और न ही मोक्ष का मार्ग है उसके लिये।

जब अपने पर भरोसा नहीं है तो फिर परमात्मा पर भरोसा कैसे आयेगा? फिर संभ्रांत, दिशा विमूढ़ की भांति इतस्ततः संसार में भटकते रहोगे। इसलिये आत्मा पर विश्वास होना अति आवश्यक है। जहाँ आत्मा का अस्तित्व है, वहाँ पर लोक का अस्तित्व है, लोक है तो वहाँ कर्म का अस्तित्व है, कर्म है वहाँ क्रिया भी है।

❀ ❀ ❀

तप/त्याग

केवल मात्र उपवास करने से इन्द्रियाँ वश में नहीं होती, किन्तु उपयोग हो तो, विचार सहित हो तो वश में होती है, जिस तरह बिना लक्ष्य का बाण निरर्थक जाता है उसी प्रकार बिना उपयोग के तप (उपवास आदि) भी लाभदायक नहीं होता।

तपः क्रिया मान-सम्मान, यशो-कीर्ति आदि ईहलोक और परलोक के लिये नहीं, बल्कि कर्म-निर्जरा, कर्मक्षय,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मशुद्धि, मनःशुद्धि के लिये होनी चाहिये।

स्वच्छन्दता से, अहंकार से लोकलाज से, कुल धर्म के रक्षण के लिये तपश्चर्या न करें, आत्मार्थ के लिये करें।

❀ ❀ ❀

राजनेता

आपने कभी ध्यान दिया होगा कि सत्ताधीश लोग जब गद्दी पर बैठे होते हैं तब उनकी दशा और किन्तु जब वे गद्दी से उतर जाते है तब उनकी दशा और हो जाती है। जिस सत्ताधीश में पराय बुद्धि रहती है, वह सदा हीं यश का पात्र होता है, आत्मसन्तुष्ट होता है। जो स्वार्थी होता है वह किसी के भी प्रति उदारता, सहयोग नहीं करता, जनता में अपयश का भागीदार बन कर पतित हो जाता है।

❀ ❀ ❀

साधक

साधक/साधु हमेशा जप, तप, संयम में लीन रहता है, वह न किसी को वरदान देता है न अभिशाप देता है, फलतः वह निपट अध्यात्मवादी होता है। वह अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों में मध्यस्थ/तटस्थ भाव से रहता है। अध्यात्म-साधना के लिए राग भाव और द्वेष भाव दोनों "अभिशाप" हैं। अतः साधु की साधना में यह स्खलना ही है। इसलिये साधु "वरदान" और "अभिशाप" दोनों से परे रहता है।

❀ ❀ ❀

मर्यादाएँ

मर्यादाऐं बंधन कब बनती है? जब मन न माने। जब मन ठीक हो तो ये बन्धन नहीं कहलाती। फिर मर्यादा मर्यादा रहती है, लक्ष्मण रेखा की तरह रक्षात्मक बन जाती है। इनके पीछे भाव जुड़ा रहता है मन का कि – "ये जो सीमा रेखाऐं हैं, मुझे/मेरी आत्मा को मेरी जीवन साधना के क्षेत्र में बनाये रखने के लिये है। नहीं तो कभी भी मैं उच्छृंखल/उदण्ड बन सकता हूँ, कभी भी लड़खड़ाकर बाहर गिर सकता हूँ। उसको थामने के लिये ये सीमा रेखाऐं हैं।

मन पता नहीं कितने प्रकार की आशाएँ/इच्छाएँ संजोये बैठा है और उसकी पूर्ति के लिये बराबर प्रयत्न करता रहता है। जब मन में तृष्णा, वांछा, इच्छा, ऐन्द्रिक विषयों की तमन्नाएँ – बासनाएँ हो, फिर वहाँ सद्विचार कैसे आयेगा? जहाँ कुत्सित विचारों का बोलबाला हो वहाँ सुविचारणा कैसे आयेगी?

❀ ❀ ❀

कर्म

कर्म क्या है ? मन, वाणी और शरीर द्वारा शुभ-अशुभ स्पन्दना का होना तथा क्रोधादि संक्लेश भावों से कार्य करना। वस्तुतः आत्मप्रदेशों पर कर्माणुओं का संग्रह होना कर्म है। उसका कालान्तर में जागृत होना कर्मफल का भोग है। किया हुआ कर्म व्यर्थ नहीं जाता, वह फलवान् होता ही है। आदमी के चाहने न चाहने, मानने न मानने से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

❀ ❀ ❀

हठधर्मिता

अपने-अपने पक्ष को सत्य सिद्ध करने का आग्रह होने के कारण वैमनस्य उत्पन्न हो गया फलतः एक-दूसरे को घृणा एवं द्वेष की दृष्टि से देखने लगे। सत्य की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वास्तविकता को समझने का प्रयास कम हो गया। और अपनी अपनी मान्यता को थोपने का प्रयत्न अधिक होने लगा। जैसा उपादान वैसा निमित्त। पिता को पुत्र, पुत्र को पिता, भाई को भाई, बहिन को भाई, पति को पत्नी, गुरू को शिष्य तथा शिष्य को गुरु का, शुभ अशुभ निमित्त बन जाते है। यहाँ तक की अपना शरीर भी सुख दुख का कारण बन जाता है।

❀ ❀ ❀

धर्म के ठेकेदार

● यह व्यर्थ का ही झगड़ा है। एक धर्मगुरु कहता है, मेरे पास आओ, मैं मोक्ष दिला दूँगा। दूसरा गुरु कहता है – मैं मुक्ति दिलाऊँगा। इस प्रकार कई धर्म और मोक्ष के दावेदार, ठेकेदार, बने हुए है। पहले तो केवल गुरु ही थे, अब तो भगवान् भी बहुत हो गये हैं इस धरती पर और ये भगवान आह्वान करते हैं – मेरे पास आओ, मैं मुक्ति दे दूंगा। यह व्यक्ति के साथ मज़ाक है।

❀ ❀ ❀

बाह्य वेष

● वेष की व्यवस्था साधना/संयम यात्रा के निर्वाह और ज्ञान आदि साधना के लिये तथा लोक में साधक और संसारी के भेद को स्पष्ट करने के लिए है। किन्तु यह व्यवहारिक साधन है, निश्चय में, तत्त्वदृष्टि से मुक्ति के साधन ज्ञान-दर्शन चारित्र ही हैं।

आजकल वेष का महत्त्व और आग्रह बढ़ जाने पर उसका दुरुपयोग भी होने लगा है। पहले निश्चित वेष वाले व्यक्ति धर्मात्मा/साधक होने से उनका जीवन त्याग-प्रधान होता था अतः जनता में विश्वसनीय होता था किन्तु कुछ दुर्वुद्धि लोग अपनी शारीरिक, मानसिक वासना की पूर्ति के लिये साधक का छद्म वेश धारण करने लगे हैं। सिंह के वेष में भेड़िये घूमने लगे है अतः वेष का महत्त्व घट गया। रावण ने साधु का वेष धारण करके ही जनकसुता का अपहरण किया था। इसलिये कहा गया है कि बुद्धिमानों को केवल वेषधारी पर विश्वास नहीं करना चाहिये।

❀ ❀ ❀

ईर्ष्या

● जिस प्रकार अग्नि दग्ध करती है, जलाती है, पदार्थों को तपित करती है इसी प्रकार ईर्ष्या भी हृदय, मस्तिष्क एवं नेत्रों को तप्त करती है, जलाती है। ईर्ष्या मन का असंतुलन है। दूसरे की वस्तु, इज्जत, व्यक्त्वि आदि देख कर मन सहन नहीं करता, यही ईर्ष्या है। ईर्ष्यालु परिणामतः अपने धैर्य, शान्ति, सहिष्णुता आदि गुणों का नाश कर लेता है।

❀ ❀ ❀

विविधा

● व्यक्ति की साधना का लक्ष्य परमार्थ है।

● यह वस्तु न मेरी है, न तेरी है। यह पौदगलिक है, भौतिक है और संयोग सम्बन्ध से प्राप्त है। ऐसी दृष्टि वाला व्यक्ति परमार्थी कहलाता है।

● साधना के अभाव में आंतरिक रोग/कषाय/वासनादि दूर नहीं हो सकते।

● आमोद-प्रमोद के साथ अध्यात्म ज्ञान का होना भी जरूरी है, अन्यथा मोह व आसक्ति में वृद्धि होती जायेगी, उससे जीवन की दशा दुखद हो जायेगी।

● जो भोग से योग की ओर, राग से विराग की ओर मन को मोड़ने में समर्थ है तथा आत्मा और परमात्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के साक्षात्कार का मार्गदर्शन कराता है वही शास्त्र है।

● जब-जब संत पुरुषों का सत्संग हुआ है – व्यक्ति बुरी आदतों से मुक्त हो गया।

● वाणी को मलिन करने वाला तत्त्व राग और द्वेष है, उसके शांत हो जाने पर वाणी के दूषित होने का कारण ही नहीं रहता।

● सहअस्तित्व बनाये रखने का मार्ग है – सहानुभूति और सहयोग।

● अहंकार को नष्ट कर दे तो आदमी स्वयं ही परमात्मा बन जाता है।

● प्रमादकारी योगों से प्राणी के प्राणों का विनाश करना हिंसा है।

● जीव ने प्रमाद के द्वारा दुख उत्पन्न किया है।

● सज्जन पुरुषों की विद्या ज्ञान के लिये, धन दान के लिये और शक्ति रक्षा के लिये होती है।

● मन ही मनुष्य के बन्धन और मुक्ति का कारण है।

● राग-द्वेष की उत्तेजना से रहित, मन की वृत्ति को सम रखते हुए वस्तु के प्रति आसक्ति को छोडना "त्याग" है।

● जिसने 'मेरी' अर्थात् ममत्व बुद्धि को छोड़ दिया, त्याग कर दिया वही परिग्रह को छोड़ता है।

● आत्मा ही हमारे सम्पूर्ण गतिविधियों की साक्षी है, दूसरा कोई नहीं।

● अन्तःकरण का मिथ्याभिनिवेश, हठाग्रह, विपरीत दृष्टि, कषाय, वासना में निमग्न रहना, 'अन्तर भेद' है।

● आस्था और ज्ञान के अभाव ने हमारी क्रियाओं को जड़वत् बना दिया।

● जो साधक दुःख से छूटना चाहता है उसे सदा अपने समान गुणवाले अथवा अपने से अधिक गुणवाले श्रमण के समीप रहना चाहिये।

● नैतिक व धार्मिक आचरण में बाधक, उन्हें मलिन करनेवाली वस्तुओं / वृत्तियों को छोड़ देना 'त्याग' है।

❀ ❀ ❀

मोक्ष

● यदि मन में मोक्ष की तीव्र अभिलाषा जागृत हो जाए तो मार्ग को व्यक्ति स्वयं हीं ढूंढ़ लेगा। लेकिन जहाँ मन में रुचि नहीं है, वहाँ मार्ग का ज्ञान होते हुए भी वह उस पर चल नहीं सकता।

● बन्धुओं ! मोक्ष के मार्ग को बन्द किसने किया? मार्ग तो है बस यात्री की जरूरत है, चलने वाले चाहिये, चलेंगे तो निश्चित ही लक्ष्य को प्राप्त कर लेंगे।

● व्यक्ति यदि दृढ़ संकल्पवान हो तो अभ्यास द्वारा वह लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर लेगा।

● मुक्ति सस्ती और आसान भी है। कहते हैं – "सिर के साठे हर मिले" परमात्मा की जो उपलब्धि बलिदान के बदले है/अहंकार-त्याग, बलिदान ही परमात्मा का मिलन स्रोत है।

● मन के राग/द्वेष/कषाय और वासना के बन्धन में जो पुनः नहीं बंधता, उसे मुक्त कहा है।

● काम निवृत्त मतिवान साधक संसार से शीध मुक्त होजाता है।

● जड़ क्रिया और शुष्क ज्ञान मुक्ति में बाधक तत्त्व हैं।

● यदि प्रकाश रहेगा, सूझबूझ रहेगी तो हम कभी भी नहीं भटकेंगे।

❀ ❀ ❀

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org